



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2016; 2(9): 57-62
www.allresearchjournal.com
Received: 14-07-2016
Accepted: 17-08-2016

डॉ० अशोक कुमार दुबे
एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत,
बी०एस०एन०वी० पी०जी० कॉलेज,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,
उत्तर प्रदेश, भारत

महाकवि कालिदास की मानव निर्मिति

डॉ० अशोक कुमार दुबे

सारांश

साहित्य जगत् में कवि सामाजिकता से सम्बन्धित विषयों को सदैव आत्मसात् कर अपने काव्य में प्रदर्शित करता है। उसका काल उसकी कल्पना एवं रंजना-शक्ति का समन्वित रूप होता है। कालिदास की कृतियों में समाज सामाजिक घात-प्रतिघातों से प्रभावित अवश्य हुये थे। कालिदास के समय में दो प्रमुख धर्म ब्राह्मण एवं श्रमण का अन्तर विरोध बहुत चल रहा था। दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति मानवता का गला घोटने के लिए उद्यत था, परन्तु कालिदास ने उत्तर वैदिक संस्कृति को अपनाकर उक्त दोनों धर्मों की रीतियों की निन्दा की तथा त्याग एवं तपस्या मूलक संस्कृति को परिनिष्ठित किया। कालिदास ने समाज के एक ऐसे उदात्त रूप की कल्पना की है, जिसमें किसी भी प्रकार का वैषम्य न होकर परस्पर समवेत की भावना मुखरित हो रही है। उनके समय में ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि वशिष्ठ सभी प्रकार के आडम्बरों से दूर होकर ज्ञान की शिक्षा जताये बैठे हैं। वर्ण एवं आश्रम एक-दूसरे के पूरक होकर सबकी उन्नति के साधक थे। ऐसी थी कालिदास की मानव निर्मिति। स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान परिणेतुः प्रसूतये। अप्यर्थकामौ तस्याऽऽस्तां धर्म एवं मनीषिणः ॥

मुख्य शब्द :- निर्मिति, लोक-संस्कृति, आश्रम व्यवस्था, सामाजिक सन्तुलन, संस्कृति आदि।

प्रस्तावना

महाकवि कालिदास की मानव निर्मिति

वास्तव में कवि सामाजिकता से सम्बन्धित विषयों को सदैव आत्मसात् कर अपने काव्य में प्रदर्शित करता है। सामाजिक आस्था, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं के साथ लोक-मान्यतायें उसे किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं और यह संवेदनशील होने के कारण उन्हें अपने हृदय पटल पर अंकित कर लेता है, जिसका प्रतिबिम्बन यथासमय हुआ करता है। कवि की कल्पना एवं सहृदयता इन्हें भी रमणीय रूप में चित्रित करना चाहती है और उसका यथार्थ अंकन ही कवि का वैशिष्ट्य माना जाता है। उसका काव्य उसकी कल्पना एवं रंजना-शक्ति का समन्वित रूप होता है, जिसमें समाज का वीभत्स रूप भी संवेद्य बनकर सामने आता है और परिष्कार का मार्ग प्रशस्त कर जाता है। समाज के महत्त्व को नकारना किसी के लिए भी उचित नहीं होता है, क्योंकि समाज एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक स्तर के लोग पाये जाते हैं। उनका स्वरूप समाज में जिस किसी भी तरह उभरता रहता है, उसकी अवहेलना न तो कोई कर सका और न तो कर सकता है। भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम-व्यवस्था के विभाजन का आधार भी यही समाज है। यहाँ पर समता की बात तो की जाती है, परन्तु वास्तव में विषमता का आधिपत्य रहता है। इसी द्वन्द्व को सुलझाने का आग्रह अनादि काल से चला आ रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा।

संस्कृति का यही द्वन्द्व मानव-जीवन के श्रेणी-विभाजन में भी कारण बनता है तथा समाज की स्थिति का आकलन करने में सहायक भी होता है इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर वैचारिक परिवर्तन सामाजिक उत्थान-पतन के कारण बनते आये हैं। जिन पर समाजशास्त्रियों ने ध्यान केन्द्रित कर उनका सही मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। इसमें उन्हें सफलता कहाँ मिलती है, यह तो सही तौर पर नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना अवश्य समझा जाना चाहिए कि हर स्थिति में मानवीय मूल्यों को ह्रास पहुँचाने वाली शक्तियाँ निन्दनीय ठहराई गई हैं। जैसा कि विदित है कि समाज एक रीढ़ है। अतः इसकी स्वस्थता सबके लिए आवश्यक है। इसी से स्वस्थ समाज की कल्पना की जाती है। इसके विस्तृत परिवेश में हमारा परिवार, गाँव, जनपद, राज्य, देश एवं सम्पूर्ण जगती तल समाहित हो जाता है। भारतीय मनीषियों की उदात्त भावनायें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का स्वप्न साकार करने के लिए ही "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" जैसे उद्घोषणा करती रही है एवं अपने प्रति वैरभाव रखने वालों के लिए भी क्षमता का रास्ता प्रशस्त कर सबके सुख एवं अनाय की प्रार्थना करती रही है-

Corresponding Author:

डॉ० अशोक कुमार दुबे
एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत,
बी०एस०एन०वी० पी०जी० कॉलेज,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ,
उत्तर प्रदेश, भारत

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ।।

व्यक्ति को स्वस्थ रहने के लिए जैसे पौष्टिक आहार की आवश्यकता होती है उसी तरह मानसिक स्वास्थ्य के लिए सुन्दर एवं आदर्श विचारों की अपेक्षा होती है। यह बात हमें महापुरुषों की जीवनियों में देखते और उसका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। वे सम्पूर्ण समाज के स्वस्थ होने के लिए एक ऐसे परिवेश की कामना करते रहे हैं, जहाँ कोई दुराव न हो और न ही कुविचारों का आधिपत्य हो। शिवत्व की प्राप्ति के लिये अन्तःकरण को शिवसंकल्पयुक्त होना कितना जरूरी है। यह बात स्वतः समझा जा सकता है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ।।¹

सामाजिक सन्तुलन के लिए विश्वास आधारस्तम्भ

इसी बात को ध्यान में रखकर हमारे मनीषियों ने समाज में प्रेम एवं विश्वास के धरातल को निर्मित किया है, जिस पर हम खड़े होकर अपने क्रिया-कलाप के माध्यम से वह अमरत्व की तरफ आसानी से बढ़ सकता है। वास्तव में प्रेम एवं विश्वास जीवन के ऐसे अमोघ सम्बन्ध हैं; जिनके सहारे सम्पूर्ण मानवता बस-वर्तिनी हो सकती है। यद्यपि जीवन की वास्तविकता में इसे कम प्रश्रय मिलता है और समाज ऐसे अधिकांश लोगों को आदर भी नहीं देना चाहता। परन्तु इसके अभाव में जीवन के अवमूल्यन का आकलन कर उनका महत्व समझा जा सकता है। ये वे मानवीय तत्त्व हैं; जिनके लिये सबका आग्रह अपेक्षित है तथा जिन्हें अपनाकर इस पृथ्वी को भी स्वर्ग बनाया जा सकता है। विश्वास के सम्बन्ध में कवि का मन्तव्य है कि वह यह तत्त्व है, जो स्वतः उत्पन्न हो जाता है तथा इसका प्रतिफलन चेष्टाओं द्वारा होता है। विश्वास ही प्रेम का आधार तथा श्रद्धा की पृष्ठभूमि है, जिसे हम शाकुन्तलम् में देखते हैं। राजा के रूप को देखकर एक तरफ आश्रम के बाहर भयवश मृग भाग खड़े होते हैं तथा दूसरी तरफ आश्रम परिवेश में रथ के पास ही मृग खड़े होकर रथ के शब्द को सहते हैं।

विश्वासोपगमादभिन्गगतयः शब्दं सहन्ते
मृगास्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्द रेखाङ्कितः ।।²

यह विश्वास जीवन को तरल एवं मधुर बनाने में सक्षम होता है। जिसके कारण न केवल वह व्यक्ति वरन् उसका सम्पूर्ण समाज ही तरल सौम्य रश्मि से आलोकित हो उठता है। यद्यपि वह काम्य है पर इसके लिए सचेष्ट होना भी आवश्यक है।

मानवीय मूल्य की परख

यदि कालिदास की कृतियों में समाज का चित्र देखना चाहें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी नाना सामाजिक घात-प्रतिघातों से प्रभावित अवश्य हुये थे। यद्यपि कालिदास का समाज सामन्ती समाज कहा गया है। जहाँ वैभव एवं विलास का आडम्बरपूर्ण वातावरण प्रभावकारी था, परन्तु समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला यह कवि भला अपनी संस्कृति को कैसे छोड़ सकता है? कालिदास के समय में दो प्रमुख धर्म ब्राह्मण एवं श्रमण का अन्तर विरोध खूब चल रहा था। दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति मानवता का गला घोटने के लिए उद्यत थी, परन्तु कालिदास ने उत्तर वैदिक संस्कृति को अपनाकर उक्त दोनों धर्मों की रीतियों की निन्दा की तथा त्याग एवं तपस्या मूलक संस्कृति को परिनिष्ठित किया। कवि ने समाज में व्याप्त आडम्बर की तरफ इंगित उनकी विकृतियों से सावधान रहने की शिक्षा दी तथा धर्म को मानव जीवन से सम्बद्ध कर उसकी

नैतिकता का प्रभाव समाज पर छोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने उदात्त चरित्रों के माध्यम से मानवीय मूल्यों की चर्चा की है तथा उनको अपनाने के लिए समाज से अपेक्षा की है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजकीय परिवेश और आश्रय के परिवेश में वैचारिक टकराव को हम इसी की परिणति मानते हैं।

धार्मिक विकृतियों के त्याग का निर्देश

कालिदास ने समाज के एक ऐसे उदात्त रूप की कल्पना की है, जिसमें किसी भी प्रकार का वैषम्य न होकर परस्पर समवेत की भावना मुखरित हो रही है। उनके समय में ब्राह्मण-धर्म के प्रतिनिधि वसिष्ठ सभी प्रकार के आडम्बरों से दूर होकर ज्ञान की शिक्षा जलाये बैठे हैं। वर्ण एवं आश्रम एक-दूसरे के पूरक होकर सबकी उन्नति के साधक थे।

स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान् परिणेतुः प्रसूतये ।।
अप्यर्थकामौ तस्याऽऽस्तां धर्म एवं मनीषिणः ।।³

राजा के नेतृत्व में प्रजा के पुरुषार्थ चतुष्टय को अपना प्रमुख ध्येय समझकर अपना रखा था। धर्म से रेखामात्र भी हटाना नहीं चाहती थी—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नैमि वृत्तयः ।।⁴

कालिदास की कृतियों के अवलोकन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि तत्कालीन भारतीय समाज सुव्यवस्थित रूप अपना चुका था। राज एवं प्रजा एक दूसरे के प्रति निष्ठावान् थे। समाज में सुव्यवस्था दिखलाता हुआ भी कवि सामाजिक रीतियों का अनादर नहीं कर सकता है। यह एक ऐसी विडम्बना है, जिसे झेलना सभी के लिए आवश्यक है।

रघुवंश के राम आदर्श राजा का स्वरूप भले ही उपस्थित करें, परन्तु निम्न प्रजा को सीता के प्रति कलंक प्रख्यापन इसी कुरीति का उदाहरण है। शाकुन्तल का दुष्यन्त भले ही दुर्वासा के अभिशाप का शिकार बनकर शुन्तला को न पहचाने, परन्तु सामाजिक भीरुता क्या यहाँ पर कारण नहीं मानी जा सकती है। कुमारसम्भव की पार्वती की परीक्षा एवं उसके दृढ़ निश्चय क्या सामाजिक वैवाहिक स्थिति को इंगित नहीं करते? परन्तु इतना होने पर भी इनके पीछे कवि का एक उद्देश्य है। कवि ने सभी जगह धरातल की खोज करनी चाही है। असमता सामाजिक विप्लव का कारण बनती है। आज के सन्दर्भ में भी यह बात प्रत्यक्ष है, परन्तु समाज का यह स्वरूप सदा ही मनुष्य के चारित्रिक उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का कारण बनता है।

कवि की स्पष्ट धारणा है कि विषम स्थितियों में भी अपने कर्तव्य बोध से युक्त रहना चाहिए। सामाजिक मान्यताएँ या बन्धन ऐसे व्यक्ति के समक्ष कुछ समय तक अवरोध बन सकते हैं, परन्तु चिरकाल तक नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि सामान्य प्रकृति का व्यक्ति इन स्थितियों से उद्वेलित अवश्य हो उठता है। ऐसी ही स्थिति के लिए कवि ने मार्ग प्रशस्त किया है। मेघदूत का यक्ष कर्तव्यच्युत होकर परिताप भोगता है। इससे उसे सीख प्राप्त होती है कि अपने सुख एवं वैभव में कर्तव्य का अनादर नहीं करना चाहिए। इसी प्रसंग में भी तथ्य सामने आता है कि जो व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति सतत् जागरूक है, वह कभी-कभी समाज के दुराग्रह का शिकार बन बैठता है। जैसे शाकुन्तलम् के दुष्यन्त एवं शकुन्तला अनायास ही दुर्वासा के कोप का भाजन बनते हैं। रघुवंश में राजाराम एक सामान्य प्रजा के अफवाह से बचने के लिए अपने जीवन स्वरूप सीता तक का त्याग कर देते हैं। यह एक अति उच्च आदर्श है, यहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण वातावरण उस व्यक्ति की प्रकृति से सहानुभूति रखने लग जाता है, कभी-कभी ऐसी स्थिति में भी जीवन में देखना पड़ता है।

चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः।
सन्नद्धं यद्यपि स्थितं कुरबकं तत्कोरकावस्थया।।⁵

शकुन्तला के वियोग में सम्पूर्ण प्रकृति को दुखी दिखाकर कवि ने इस उदात्त भावना को अत्यन्त उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया है।

कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं।
शंसंहरति स्मरोऽपि चकितस्तूर्वार्धकृवंतं शरम्।।⁶

रघुवंश की सीता का पुनर्विवासन न केवल सीता के लिए कष्टप्रद है, अपितु सम्पूर्ण प्रकृति के लिये भी दुःखद बन बैठा है। अनपेक्षित दण्ड चाहे किसी को भी दिया जाए उससे लोक चेतना आहत होकर क्रन्दन करती है—

नृतं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि।।⁷

आतिथ्य संस्कार

‘अतिथि देवो भवः’ का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति का अंश रहा है तथा इसका अनुपालन सबके लिए आवश्यक है। यह बात कवि को भी अभिप्रेत है। इसका पता इस बात से चलता है कि भोली-भाली मुनि कन्यायें अधिकृत होकर विश्वासपूर्वक अपना कार्य करती दिखती हैं। सुदूर एकान्त तपोवन में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था। शकुन्तला एवं पार्वती इस सन्दर्भ में कालिदास के आदर्श पात्र हैं। स्वयं उनकी मनःस्थिति इतनी उदात्त एवं परिष्कृत है कि वे अपने अनुरूप जीवन साथी चुनकर प्रशंसा का पात्र बनती हैं। इन लोगों को दृढ़ निश्चय, जहाँ एक तरफ भारीय नारियों के शील का निदर्शन है, वहीं दूसरी तरफ फल प्राप्ति के प्रति समर्पण का भाव भी है।

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शाशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात्।।
क इप्सितार्थस्थिरनिचश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखे प्रतीपयेत्।।
8

हमारा हिन्दू समाज संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। इसमें कर्मठ लोगों के अतिरिक्त बाल-वृद्ध एवं अनाथों के साथ ही अतिथि लोगों के प्रति बाल-वृद्ध एवं अनाथों के साथ ही अतिथि लोगों के प्रति आदर दिखाने का आग्रह व्याप्त है। यह ऐसा मेरुदण्ड है जिसके सहारे सामाजिक धुरी नियंत्रित होकर चलती है। यही कारण है कि हमारे यहाँ भौतिकता को कभी भी महत्व नहीं दिया गया। सामाजिक मर्यादा का पालन करना सबके लिए आवश्यक रहा है, चाहे वह राजा हो या तपस्वी। मर्यादा के प्रति कवि का विशेष आग्रह इस बात का द्योतक है कि जीवन के प्रत्येक सोपान में यही दृढ़भक्ति है। न केवल सामाजिक सन्तुलन अपितु प्राकृतिक सन्तुलन के लिए भी इस मर्यादा की आवश्यकता है। तभी तो वशिष्ठ जैसे महर्षि भी अपने आश्रम में पहुँचे हुए राजा दिलीप का आतिथ्य सत्कार करने में अपमान नहीं समझते—

तमातिथ्यक्रिया-शान्त-रथ-क्षोभ-परिश्रमम्।।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः।।⁹

और नहीं राजा रघु कौत्स जैसे स्नातक को अर्ध्य देने में संकोच नहीं प्रदर्शित करते हैं। ऊँचे परिवार में भी सामान्य व्यक्तित्व को आदर दिया गया है तथा निम्नवर्ग के लोग अपने बीच बड़ों को पाकर अहोभाग्य समझते हैं। कौत्स जैसा सामान्य स्नातक रघु के पास गुरु दक्षिणा प्राप्त करने में संकोच का अनुभव नहीं करता।

प्रेम का मूल्यांकन

कालिदास ने प्रेम के वासनात्मक रूप को हमेशा ही नकारा है तथा समर्पणपूर्ण जीवन की संस्तुति की है। शाकुन्तलम् में

शकुन्तला एवं दुष्यन्त का प्रणय वासनामूलक रहा है। उसे वियोगकाल में तपस्या (त्यागमूलक) की अग्नि में जलाकर शुद्ध प्रेम के रूप में कवि ने प्रतिष्ठित किया है। प्रेम का यह वह रूप है जिस पर किसी भी प्रकार का कालुष्य प्रभाव नहीं छोड़ सकता है। भारतीय शास्त्रकारों ने इसी से श्रृंगार रस के दो भेद किए हैं—संभोग तथा विप्रलम्भ। विप्रलम्भ श्रृंगार को ही रसरराज की संज्ञा प्रदान किया है। यक्ष का प्रणय भी इसी वियोग की ज्वाला में तपकर खरा हुआ है। पार्वती ने तो तपस्या द्वारा एक ऐसे प्रणय को प्राप्त किया है, जिसका अद्वैत रूप आज भी आदर्श रूप में समाज को माना जाता है।

प्रेम का क्षेत्र गगन की तरह विस्तृत है, इसकी पूर्णता का आभास इसी से लगता है कि माता-पिता, पुत्री-पुत्रादि रूपों में विभक्त होने पर भी यह पूर्ण ही रहता है। इसकी सीमा का विस्तार क्रमशः परिवार, देश तथा विश्व तक हो सकता है। इन सभी की आधारभूमि विश्वास है। बिना विश्वास प्रेम ही नहीं हो सकता और बल प्रयोग के द्वारा भी यह सम्भव नहीं है।

यह एक उदात्त मनोभाव है जो प्राणिमात्र में आनन्द का सृजन करता है। शकुन्तला का पति प्रेम उसकी थकान को आनन्द में बदल देता है। कौत्स की इच्छा पूरी करने में रघु को आनन्द उपलब्ध होता है अन्यथा विश्वजीत यज्ञ में दान देकर अकिंचन बना वह राजा इतनाखतरा मोल क्यों लेता? आज प्रेम का स्वरूप दाम्पत्य जीवन मात्र में ही देखने का प्रयास होता है, परन्तु कालिदास ने इसे भी पूर्ण व्यवहारिक बनाकर प्रस्तुत किया है। प्रेम में त्याग की भावना आवश्यक है।

प्रेम की पवित्रता की रक्षा भी कवि ने की है। प्रेम का अत्यधिक मंजुल स्वभाव हमें मेघदूत में उपलब्ध होता है। विरही यक्ष अपनी प्रेमिका के प्रेम में इतना तन्मय है कि वह अपनी व्यथा भूलकर उसी की चिन्ता करता है। प्रेम का वह दिव्य पक्ष होता है जब प्रणयी तथा प्रणयिनी दोनों एक-दूसरे की ही चिन्ता करते हुए अन्य सब कुछ भूल जाते हैं। उन्हें वही रूप सृष्टि के अन्य जीवों में भी दिखाई पड़ता है यह एकाग्रता प्रेमातिथय की परम स्थिति है। यक्ष प्रकृति एवं उसके प्राणियों में अपनी ही प्रणयिनी के व्यक्त रूप को देखता है।

श्यामास्वङ्ग चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं।
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्।
हन्तैकस्मिन् कचित्तदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति।।¹⁰

यक्ष उसी का चित्र बनाकर उसके साथ वार्तालाप करना चाहता है तथा उससे क्षमा याचना भी करना चाहता है। यह उदात्त प्रेमी की अद्वैतावस्था है। कवि के अन्य पात्रों में दुष्यन्त भी शकुन्तला के सभी क्रियाकलापों को अपने प्रति समझता है। क्रमशः उसका प्रेम इस अवस्था तक पहुँच जाता है कि वह शकुन्तला को निरंतर देखते ही रहना चाहता है। माताओं का संदेश वापस आने के लिए पाकर भी वह जाना नहीं चाहता तपोवन की रक्षा को ब्याज बनाकर विदूषक को वापस भेज देता है।

यह मात्र दुष्यन्त की ही अवस्था नहीं है। शकुन्तला को भी इस दिशा में उदात्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। दुष्यन्त के वापस लौट जाने पर अतिथि परायण शकुन्तला द्वार पर आये हुए दुर्वासा जैसे अतिथि का स्वागत करना भूल जाती है। यहाँ उसका दोष नहीं समझा जाना चाहिए वह तो “शून्य हृदय” है उसका हृदय तो दुष्यन्त के पास है। वह दुर्वासा के द्वारा शापित होकर भी शाप के बारे में नहीं जान पाती है।

अंगूठी प्राप्ति के उपरान्त धीवर राजा के प्रेम रूप में चित्रित हुआ है। वह शकुन्तला के कातर नेत्र, विषण्णवदन को देखकर इतना पश्चाताप करता है कि प्रकृति भी उदास हो जाती है। प्रेमिका से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ प्रिय होती हैं। तभी तो वह राजा हंस मिथुन से संयुक्त मालिनी नदी के तट पर उगे हुए वृक्ष, मृग के

सींग में अपना बायां नेत्र खुजलाती हुई प्रेम में पड़ी मृगों को चित्रित कर उसी बीच में शकुन्तला का चित्र बनाना चाहता है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी ।।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीमुरोः पापनाः ।।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्ययः ।।
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।।¹¹

प्रेम की प्रौढ़ावस्था का यह निदर्शन कवि ने इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह कहीं भी उत्तेजक नहीं हो पाता है। कवि की यह जिम्मेदारी होती है कि वह एक ऐसा संस्कार छोड़े, जिससे भावी पीढ़ी शिक्षित हो सके, सुसंस्कृत बन सके।

आज समाज के समक्ष जो इन्द्रिय प्रेम का वीभत्स रूप आ रहा है, वह त्याज्य है। हमारे शास्त्रकारों ने इसी से उज्ज्वल पक्ष को "रस" तथा अनुचित पक्ष को रसाभाव की संज्ञा दी है। स्वार्थ की दुर्गन्ध कब तक उनके मन को संतोष दे पायेगी, यह तो वे भी नहीं जानते। इसके लिए आज की पीढ़ी को महाकवि की रचना पाठशाला में पढ़कर सच्ची शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। ऐसा करते समय दम्पति के सामने सम्पूर्ण परिवार ही नहीं वरन् अपना समग्र समाज ही वर्तमान रहता है। कवि की स्पष्ट धारणा है कि किसी व्यक्तित्व के निर्माण में केवल माता-पिता ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वातावरण उत्तरदायी होता है। अतः उस व्यक्ति पर सभी का समान अधिकार है। यह बात उन्होंने अपने उदात्त नायकों के माध्यम से सभी जगह स्पष्ट की है इस प्रकार कालिदास ने सामन्ती शासन व्यवस्था के युग में एक ऐसे समाज की कामना की है, जो आज के सन्दर्भ में उपयोगी है तथा उसका महत्त्व भविष्य में भी अक्षुण्ण बना रहेगा। यह कवि की विशेषता है कि उसने सीता, राम जैसे दिव्य पात्रों का सृजन कर उनके अन्तर्गत मानवीय मूल्यों को इस प्रकार निर्धारित किया है कि वे दिव्य अथवा मानवेतर होते हुए भी हमारे बीच उनके आदर्श सदैव अनुकरणीय हैं। इन्हीं आदर्शों के कारण रघुवंश न केवल कालिदास की कृतियों में अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अप्रतिम स्थान पा सका है। आज जिस समाजवाद की बात की जाती है, उसका ज्वलन्त रूप हम कालिदास के रचनाओं में प्राप्त कर सकते हैं। इसकी रक्षा के लिए राम-सीता का पुनर्विवासन करने में नहीं हिचकिचाते। वे लक्ष्मण से कहते हैं—

पौरुषे सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गोपवव तैलबिन्दुम् ।।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ।।¹²

अर्थात् जल में फैलते हुए तेल बूंद की तरह प्रजा में फैलते हुए सीता विषयक अलीकापवाद को सह सकने में असमर्थ हैं।

अधिकार एवं कर्तव्य

समाज का प्रत्येक वर्ग अपना कर्तव्य पालन करने में गौरव का अनुभव करता है। शकुन्तला का धीवर अपनी धीवरधुकन को बढ़ाकर धीवरवृत्ति को बताकर राजपुरुषों द्वारा उपहासित होने पर अपने ही व्यवसाय को पवित्र ठहराता है।

सहजं किल यद् विनिन्दितं न हि तत् कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽप्यकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।।¹³

गीता के द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्त "स्वधर्मं निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः" इसी तथ्य की परिपुष्टि करता है। मनुस्मृति भी इसका समर्थन करती है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मो जीवन्ति सद्यः पतति जातितः ।।¹⁴

भारतीय समाज अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता चला आ रहा है। गीता का कर्मवाद इसका निदर्शन है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में वर्ण एवं आश्रम की व्यवस्था अत्यन्त आदृत रही तथा उसमें किसी भी प्रकार का निरोध नहीं हो रहा, अपितु परस्पर सामंजस्य की भावना परिलक्षित होती रही है।

समाज का सभी वर्ग अपने धर्म एवं कर्म के अनुसार उसकी उन्नति में साधक सिद्ध होता रहा है। कवि ने इस संदर्भ में अपनी कृतियों में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि समाज का प्राणी चाहे वह आभिजात्य से सम्बद्ध हो अथवा सामान्य से अपने कर्तव्य के क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं रहा है। "रघुवंश" के प्रथम सर्ग में ग्राम्य जीवन की सरसता, निष्कलुषता तथा स्वास्थ्य प्रदत्ता का व्याख्यान हुआ है तथा वहाँ जीवन एवं गोसेवा का महात्म्य भी दिखलाया गया है (महाकवि कालिदास, डॉ० रमाशंकर तिवारी, पृ०सं० 390) कर्तव्य की जागरुकता के प्रसंग में रघुवंश कवि ने बताया है कि ब्राह्मण त्याग एवं तपस्या का जीवन धारण करते हैं। क्षत्रिय दानशीलता के साथ पीड़ितों की रक्षा के व्रत का निर्वाह करते हैं—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः

क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।।¹⁵

वर्ण एवं आश्रम की पारस्परिक सहभागिता

कालिदास के समाज में वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था, एक दूसरे की साधिका के रूप में चित्रित हुई है, जहाँ किसी भी प्रकार के विद्वेष न होकर परस्पर सौहार्द के भाव परिलक्षित होते हैं। वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था समाज के जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के उद्देश्य से ही की गयी थी।

कवि ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास इन चारों आश्रमों के प्रति अतीव अनुराग एवं सम्मान का भाव प्रदर्शित किया है। बटुक वेषधारी शिव का दर्शन इस सन्दर्भ में दर्शनीय है।

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलिन्व ब्राह्ममयेन तेजसा ।।

विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनशरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ।।¹⁶

इन आश्रमों में धर्म का पालन प्रत्येक वर्ग के लिए आवश्यक था। इस प्रसंग में यह कह देना अपेक्षित है कि सामाजिक धुरी इस समय इस प्रसंग से परिलक्षित थी कि कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि मुझे यह आचरण करने को बाध्य किया जा रहा है। प्रत्येक वर्ग अपने-अपने पक्ष पर स्वतः चल रहे थे तथा आश्रमों की मर्यादा का ध्यान रखते थे। अवरोधनात्मक वस्तु के न होने से कहीं कोर्ट टकराहट नहीं थी। समाज के किसी भी वर्ग में कोई हीनभावना न होकर एक-दूसरे के प्रति पूर्ण विश्वास एवं सम्मान भरा था।

महाकवि का वात्सल्य निरूपण

महाकवि कालिदास को शिशुओं से अतीव लगाव था। इसलिए उन्होंने प्रत्येक आवश्यक स्थलों पर हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ एवं प्रसन्न बालकों का चित्ताकर्षक व सजीव चित्रण कर उनके प्रति नर-नारी के ममत्व को दर्शाया है—

पुत्रोत्सवे माघति कान हर्षात् ।।¹⁷

इसी प्रकार कवि की रचनाओं में सुन्दर एवं स्वस्थ बालकों का आकर्षक चित्रण हुआ है। रघुवंश में बालक राम के तेज एवं सौन्दर्य का तन्मयता के साथ चित्रण है।

कोशिकेन सकिल समीक्ष्यते ।।¹⁸

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

शिक्षा का प्रसार तत्कालीन समाज में अत्यधिक था तथा गुरुकुल परम्परा लोगों के लिए उपादेय थी। इसके लिए राज्यानुदान अपेक्षित मात्रा से प्राप्त होते थे तथा कुलपति सभी प्रकार के भेदभावों से रहित अधीनस्थ स्नातकों के साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। तत्कालीन गुरुकुल आजकल के विश्वविद्यालयों के सदृश आडम्बरयुक्त न होकर सामान्य प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में चलते थे। कुलपति का जीवन अत्यन्त साधारण एवं तपयुक्त होता था तथा वह अपने स्नातकों एवं छात्रों के बीच रहकर उनके जीवन को उन्नत बनाने की शिक्षा देता था। उस समय शिक्षा का उद्देश्य उपाधि प्राप्त कर धन कमाना नहीं था, अपितु चेतना का परिष्कार करना था।

गुरु शिष्य का इतना मधुर सम्बन्ध होता था कि सम्पूर्ण वातावरण में एक सामंजस्य रहता था। शिष्य, गुरु को ही सब कुछ समझता था। सादा जीवन व्यतीत कर ऊपर उठने की व्यवहारिक शिक्षा उस गुरुकुल में ही मिल जाती थी। उस समय बड़े-बड़े छात्रावास न होकर पर्णशालायें थीं—

निर्दिष्टं कुलपतिना स पर्णशाला —
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।।
तच्छिष्याध्ययननिर्वेदितापसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।।¹¹

जिनका निर्माण स्वयं छात्र करते थे और उसी में छात्रों को रहना पड़ता था। स्वावलम्बन की यह शिक्षा छात्र को आगे जीवन में काम आती थी तथा वह आज की तरह अनुशासनहीन न होकर योग्य स्नातक बनकर निकलता छात्र जिस पर समाज को गर्व होता था। यह शिक्षा मात्र पुरुष के लिए न होकर स्त्री वर्ग के लिए भी अनिवार्य थी। छात्र एवं छात्राएँ दोनों समान रूप से शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं।

समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था तथा वे पुरुष वर्ग के लिये आवश्यकता के अनुरूप अपना कर्तव्य पूरा करती थीं। महाकवि कालिदास ने पत्नी को सचिव एवं शिष्या कहकर महिलाओं की उच्च शिक्षा स्थिति को प्रकट किया है—

गृहिणी सचिवः सखा मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणादिमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हतम्।।²⁰

महिलायें सामाजिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करती थीं तथा उनकी तपः मूलक साधना से सम्पूर्ण समाज प्रभावित होता था। शिव जैसे विरक्त देवता को भी पार्वती के सामने झुकना पड़ता है। दुष्यन्त शकुन्तला से क्षमा माँगते हुए लज्जित नहीं होते।

राजा— (शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)
सुतनु! हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते।
किमपि मनसः संमोहो में तदा बलवानभूत्।।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः।
स्त्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।।²¹

यक्ष के माध्यम से महाकवि ने जो संदेश दिया है वह पति-पत्नी के बीच विश्वास का आधार है। यह किसी भी प्रकार का कालुष्य न होकर प्रगाढ़ विश्वास की प्रतिष्ठा है। इसे भी नैतिक शिक्षा समझनी चाहिए। शूरवीर की पत्नी और उसकी माता होना स्त्रियों के लिए स्पृहणीय आदर्श है। तापसियों ने शकुन्तला को 'महादेवी' और 'वीर प्रसविनी' बनने का आशीर्वाद दिया है। परिव्राजिका ने रानी धारिणी से कहा है कि तुम अपने सुयोग्य पति के कारण वीर पत्नियों में शिरोमणि हो और अपने सुयोग्य पति के कारण

“वीर प्रसू” (वीर को जन्म देने वाली) की पदवी प्राप्त कर चुकी हो—

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात् त्वामुपस्थितः।।²²

कन्या के प्रति आदर का औचित्य

कवि ने कन्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट व्यक्त किया है। वे जब तक अपने पिता के घर पर रहती हैं, दीप-शिखा की भाँति उसे प्रज्ज्वलित एवं आलोकित रखती हैं। प्रेम, प्रसन्नता, उत्सुकता तथा आनन्द आदि भावों की स्नेहमयी सरिता प्रवाहित करती हुई सबके प्रिय बनी रहती हैं। शकुन्तला को महर्षि कण्व के आश्रम में जो प्यार मिला वह प्रत्येक भारतीय कुटुम्ब के लिए अनुकरणीय है।

आदर्श पारिवारिक जीवन

कालिदास ने सामाजिक ढाँचे में पारिवारिक परिवेश को अपने देश के अनुकूल ही चित्रित किया है। पारिवारिक परिवेश में सौहार्दपूर्ण होने के लिए कवि ने राम का उदाहरण प्रस्तुत किया है। राम जैसे पितृभक्त राज्यसुख को तृणवत् छोड़ देता है। कौशल्या जैसी माता किसी भेद के कैंकेयी के विचार को आदर्श मानकर उसका अनुपालन करने के लिए राम को सहर्ष अनुमति प्रदान करती हैं। लक्ष्मण जैसे पुत्र को भाई की सेवा में भेजने में सुमित्रा को कोई कष्ट नहीं होता है। उर्मिला जैसी पत्नी, पति को विपरीत चलने के लिए साहस नहीं करती, भरत जैसा भाई राम के आदर्श पर चलकर अपनी माँ का त्याग कर देता है। ये सभी बातें आदर्श परिवार की पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। इनके पीछे जिस त्याग की भावना को दिखलाया गया है। वह भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है।

पारिवारिक शान्ति ही सामाजिक सुख का आधार है और वही आगे चलकर देश की समृद्धि का हेतु बनती है। कवि ने इस तथ्य को सर्वत्र प्रतिपादित किया है। कालिदास ने समकालीन पारिवारिक स्थिति के स्वरूप को इस तरह से इंगित किया है कि उसका अनुपालन करता हुआ हमारा समाज सदा ही आदर्श बना रह सकता है। आज के संदर्भ में तो कालिदासीय परिवार और भी उपयोगी है, क्योंकि आज की मान्यता अपने अतीत को भूलकर पाश्चात्य के अनुकरण पर टिकी हुई है, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव देखने को मिलता है। पारिवारिक सौहार्द का यह वातावरण आज बहुत दूर हो गया है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी एवं भ्रातृत्व भाव आज इस रूप में प्रस्तुत है कि उन्हें देखकर भारतीय परिवार की अस्मिता पर सन्देह हो उठता है। इसका मुख्य कारण यह है कि आज की राजनीति, मानवीय मूल्यों से कोसों दूर हटकर मात्र स्वार्थ-सिद्धि पर टिकी हुई है एवं पदलिप्सा तथा महत्वाकांक्षा ही उसके मुख्य पहलू हो गये हैं। आज हमारी अतीत की संस्कृति इस विषय में मार्ग-दर्शिका बन सकती है, जो न केवल एक परिवार, अपितु समूचे पृथ्वी तल को ही एक कुटुम्ब मानकर चलती आ रही है। सहज स्नेह प्रत्येक स्तर पर वहाँ परिलक्षित होता है तथा न केवल मनुष्य अपितु प्रकृति भी उसी स्वर में अपना राग मिलाती प्रतीत होती है।

सच पूछा जाये तो भारतीय दर्शन प्रकृति पर ही पूर्णतया आश्रित है, क्योंकि यह प्रकृति ही हमें नैतिकता का मूल उपदेश देती है, परन्तु आज विडम्बना यह है कि न तो हमें उधर देखने का अवकाश हो रहा है और न ही हम उसके भावों को समझने में सक्षम हैं। आज का विज्ञान कोरा भौतिकवादी होकर मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करता हुआ विकास के दम्भ से समाज को उस स्थल तक पहुँचा दिया है जहाँ प्रतिस्पर्धा की एक चिंगारी मानवता की भस्मसात् करने के लिए पर्याप्त है।

अतः आज की परिस्थिति में भी यह जोर देकर कहा जा सकता है कि कालिदास के ग्रन्थ आधुनिक काल की भटकी हुई मनीषा के लिए मार्ग-दर्शक बन सकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. यजुर्वेद, 34/1
2. शाकुन्तलम्, 1/14
3. रघुवंश, 1/25
4. वही, 1/17
5. शाकुन्तलम्, 4/12
6. शाकुन्तलम्, 4/12
7. रघुवंश, 14/69
8. कुमारसम्भवम्, 5/5
9. रघुवंश, 1/48
10. मेघदूतम्, 41
11. शाकुन्तलम्, 6/17
12. रघुवंश, 14/38
13. शाकुन्तलम्, 6/1
14. मनुस्मृति, 10/17
15. रघुवंश, 2/43
16. कुमारसम्भवम्, 5/30
17. कुमारसम्भवम्, 11/17
18. कुमारसम्भवम्, 11/1
19. रघुवंश, 1/15
20. रघुवंश, 8/67
21. शाकुन्तलम्, 7/24
22. मालविकाग्निमित्रम्, 5/16